सिएटल, यू.एस.ए.
३० अगस्त, २००४

संदेश संख्या – ७१

अद्वैतामृतवर्षिणी

(द्वैत, विभाजन, परस्पर विपरीत युग्मों, मतों, विभेदों एवं खण्डन–रहित शुद्ध चेतना की अमृत वर्षा)

यह श्री मद्भगवद्गीता का दूसरा नाम है परन्तु यह प्रचलित नहीं है । यह तथाकथित भक्ति की अवधारणा से झकझोरकर बाहर निकाल देती है । काल्पनिक, रहस्यमयी, मनोरंजक, आश्चर्यजनक और उत्तेजक कथाओं एवं कहानियों द्वारा बहु–प्रचारित अवधारणाओं के प्रति स्वयं को उपलब्ध रखना और उसके द्वारा सहज भावुकता तथा आवेग में बह जाने को प्रायः भक्ति समझा जाता है। चिर–स्थायित्व की लालसा, अस्थायित्व का भय और इनसे उत्पन्न द्वन्द्व, तुलना और अन्तर्विरोध के कारण मानवीय चेतना अंतहीन विखण्डन में फँसी हुई है । उसी विखण्डन द्वारा परिस्थिति को अपने वश में करने के लिये विश्वास–पद्धति तथा अपराध–अपराधबोधग्रस्तता –आत्मदया–भावुकता–मनोवेग आदि के जाल को प्रोत्साहित एवं प्रमाणित किया जाता है । यह विखण्डन ही विभक्ति है जिसका अभिप्राय मानव–चेतना में द्वैत, विभाजन और विखण्डन है । इस विभक्ति की समाप्ति (लय) ही भक्ति (पूर्ण चेतना) का उदय है । द्वैत की समाप्ति ही दिव्यता का अवतरण है । विखण्डन का लय परमपवित्र की विशिता है । विचारों के जाल से विचारक को भिन्न मानना अर्थात् चेतना के उपादानों से ''मैं'' का अलग अस्तित्व मान लेना ही, मानव–संबंधों के प्रत्येक स्तर पर चाहे वह व्यक्तिगत या पारिवारिक या सामाजिक या राजनीतिक या आर्थिक या राष्ट्रीय या अन्तरराष्ट्रीय हो, बदमाशी, दुःख एवं दुःखभोग को जन्म देता है । लालसा, भय, आसक्ति, निर्भरता आदि सभी, मानव–चेतना में स्थित विखण्डन एवं द्वैत के परिणामस्वरूप हैं । 'ईश्वर' द्वैतता की अन्तिम परिणति है । जब ''दूसरा'' नहीं है तो ''मैं'' भी नहीं है । यही वास्तविक भगवत्ता है। परन्तु, वास्तविकता की किसे चिन्ता? मन एवं उसके उन्माद के लिए कल्पना ही काफी है । इसी कारण एक ओर आप कहते हैं, ''मैं ईश्वर को प्रेम करता हूँ'' परन्तु दूसरी ओर सत्ता एवं सम्पत्ति हेतु मनुष्य की हत्या करते हैं तथा जिह्वा मात्र की तुष्टि हेतु जानवरों की जान तक लेते हैं ।

ब्रह्मसूत्र में जब एक शिष्य आचार्य से पूछता है – ''मानवता के लिए सबसे गहन प्रज्ञा क्या है ?'' तब आचार्य उत्तर देते हैं – ''अद्वैत अर्थात् दो नहीं है।'' और यह कहकर आचार्य वहीं रुक जाते हैं । उन्होंने कभी नहीं कहा – ''एक है''। यही महानतम प्रज्ञा है । जिस क्षण आप कहते हैं कि स्वर्ग में 'एक' (शक्ति या ईश्वर) है तो तत्क्षण दूसरा अर्थात् 'मैं' हठधर्मी आत्मचेतना रूप में शरीर में अनुभूत होने लगता है । और तभी आपाधापी, महत्वाकांक्षा और चिन्ता (लालच और भय) का सम्पूर्ण खेल तथा धर्म के नाम पर सभी प्रकार की ईश्वर आधारित ठगी और तत्पश्चात् उसी एक ईश्वर के नाम पर हिंसा शुरु हो जाती हैं । जापान में परमाणु बम गिराने वाले विमान चालक का दावा था कि ईश्वर उसके बगल में बैठा था तथा बम गिराने के लिए उसे प्रेरित कर रहा था । हे भगवान !

श्रीमद्भगद्गीता से ८ श्लोकों वाली १२ मालाएँ तथा १३वीं माला १२ श्लोकों की, इस तरह कुल १०८ श्लोक लिए गए हैं जो निम्नलिखित प्रक्रियाओं को दर्शाते हैं–

१. मानव शरीर में उपलब्ध सर्वव्यापक चितिशक्ति की सुगन्ध
२. समस्त प्रयोजनों के समर्पण की पवित्रता
३. गुणों की प्रकृति अर्थात् लक्षण एवं प्रवृत्ति
४. गुणों से परे अर्थात् गुणातीत अवस्था
५. पूर्ण क्रिया
६. संयुक्त होना

७. योग–तत्व

८. प्रबोध का प्रकाश अर्थात् परस्परविरोधी युग्मों से मुक्ति

९. रहस्यपूर्ण

१०. ज्ञान के लिये ज्ञात का त्याग

११. शुद्ध जीवन, पवित्र अस्तित्व और शाश्वत सद्‌गुण

१२. अनभिव्यक्त, अज्ञेय

१३. स्थितप्रज्ञता की ऊर्जा

इस संदेश संख्या ७१ में, ३२ श्लोकों द्वारा उपर्युक्त १ से ४ तक की प्रक्रियाओं को प्रस्तुत किया गया है । दशमलव बिन्दु के पूर्व की संख्या गीता के अध्याय–संख्या को दर्शाती है तथा बाद की संख्या श्लोक संख्या को दर्शाती है। इस तरह १२.१३ का अर्थ है–अध्याय बारह का तेरहवाँ श्लोक।

१. मानव–शरीर में उपलब्ध सर्वव्यापक चितिशक्ति की सुगन्ध

१२.१३ जो सभी प्राणियों में द्वेष–भाव से रहित, मित्र–भाववाला, करुणापूर्ण, परिग्रह की आसक्ति से मुक्त, अहंकाररहित, सुख–दुःख में समभाववाला (तटस्थ) तथा सहनशील हो, वह पूर्णता में होता है।

१२.१४ योगी सदैव संतु, स्थिर चेतना वाला तथा समझदारी में स्थित होता है। वह मेरे (सर्वव्यापक चितिशक्ति) में पूर्णरूपेण दृढ़निश्चयी हेता है, वह मुझसे अविभाजित तथा मुझे प्रिय होता है।

१२.१५ वह, जो दूसरों को उत्तेजित नहीं करता और न ही दूसरों से उत्तेजित होता है और जो हर्ष, ईर्ष्या, भय तथा व्यथा से मुक्त है, वह मुझे (सर्वव्यापक चितिशक्ति को) प्रिय है।

१२.१६ वह, जो प्रयोजन रहित, पवित्र, सक्षम, अनासक्त, दबाव और तनाव से परे, कर्मों से मुक्त तथा समर्पित है, सर्वव्यापक चितिशक्ति को (मुझे) उपलब्ध होता है।

१२.१७ वह, जो न हर्षित होता है न शोक करता है, न दुःखी होता है, न लोभ करता है, जिसने शुभ और अशुभ दोनों का त्याग कर दिया है और जो निस्सन्देह चेतना के तल पर खण्डित नहीं होता, वह चैतन्य में होता है।

१२.१८ जो शत्रु तथा मित्र, दोनों के प्रति समान होता है, मान तथा अपमान से अप्रभावित, शीत तथा उष्ण और सुख तथा दुःख में समान रहता है और जो एकाकीपन को उपलब्ध होता है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है ।

१२.१९ जो निन्दा और स्तुति के प्रति तटस्थ हो, शांत और उदासीन हो, जो है उसी से संतु हो, जिसका स्थायी निवास न हो (भ्रमणशील हो), चेतना के तल पर धीर एवं स्थिर हो और श्रद्धा तथा आस्था से पूर्ण हो, वह मुझे प्रिय है।

१२.२० ऊपर वर्णित शाश्वत नियमों का जो श्रद्धापूर्वक पालन करते हैं, भक्त हैं तथा मुझे परम मानकर संतु हैं, वे मुझे (पूर्ण चैतन्य–सर्वव्यापक चितिशक्ति को) अत्यन्त प्रिय होते हैं ।

२. समस्त प्रयोजनों के समर्पण की पवित्रता

१२.११ यदि इसे करने में भी तुम (मन) असमर्थ हो तो मेरी (निर्मन की) भक्ति का आश्रय लेकर तथा सभी प्रयोजनों का सर्वथा त्याग कर, पूर्ण क्रिया में उपलब्ध हो जाओ और सामंजस्य तथा समता में रहो ।

१२.१२ अभ्यास (तप) श्रेष्ठ है। ज्ञान (स्वाध्याय) भी श्रेष्ठ है। ज्ञात का ध्यानशील प्रक्रिया द्वारा लय हो जाय और इससे स्वयं द्वारा ज्ञान हो जाये तो वह श्रेष्ठतर है । किंतु, सभी प्रयोजनों का समर्पण तो श्रेष्ठतम है। उसके तत्काल बाद शाश्वत शान्ति उपलब्ध हो जाती है।

४.१६	जो अपनी लालसा और सभी कर्मों के प्रयोजनों का त्याग कर चुका है और इस तरह ''जो है'' की विकल्परहित सचेतनता रूपी अग्नि द्वारा कर्म–बन्धनों को जला चुका है उसे बुद्धिमान लोग संत कहते हैं ।

४.२०	कर्मों के अव्यक्त प्रयोजनों का त्यागकर लालसा तथा निर्भरता से मुक्त होकर व्यक्ति जब कार्य करता है तो वह पूर्णतया प्रयत्नशैथिल्य की अवस्था में तथा अत्यन्त सहजता के साथ होता है । पूर्ण क्रिया के होने में कर्ताभाव अनुपस्थित होता है ।

५.१०	व्यक्ति जब अहंकारशून्यता में तथा आसक्ति रहित होकर कार्य करता है तो उसी तरह दोषमुक्त होता है जिस तरह कमल–पत्र जल में रहकर भी उससे प्रदूषित नहीं होता।

५.१२	जिसकी चेतना खंडित नहीं होती तथा जो किसी प्रयोजन से युक्त नहीं होता, वह स्थिर शांति को प्राप्त होता है । जिसकी चेतना खंडित, प्रछन्न एवं अव्यक्त प्रयोजनों से युक्त तथा विभेदकारी होती है, उसके कार्य उत्तेजना और लालसाओं से उत्प्रेरित गतिविधियों तक ही सीमित होते हैं ।

२.४७	कार्य करना तुम्हारे (मन के) अधीन है परन्तु उसका परिणाम सर्वव्यापक चैतन्य द्वारा निर्धारित होता है (इस तरह तुम्हारे हाथ में नहीं है) । कर्मों का फल कभी भी तुम्हारा प्रयोजन नहीं होना चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति को आलसी होना चाहिए ।

१८.२३	शुद्ध कर्म वस्तुतः वे होते हैं जो मानसिक प्रदूषण से रहित तथा केवल गुणों द्वारा निर्दिष्ट होते हैं और जहाँ न आसक्ति होती है न विरक्ति और न ही परिणाम का प्रयोजन ।

३.	गुणों की प्रकृति अर्थात् लक्षण एवं प्रवृत्ति

३.२७	सभी कर्म सदैव गुणों अर्थात् सहज प्रवृत्तियों और विभेदकारी चित्तवृत्ति के उपादानों द्वारा सम्पादित होते हैं । परन्तु अहंकारी मन अपनी भ्रांति एवं मूर्खतावश मानता है कि वही इनका कर्त्ता है ।

३.२८	हे अर्जुन (मन) । विचारक एवं विचारों के बीच के मिथ्या विभाजन के संबंध में वास्तविकता का प्रत्यक्षबोध होने पर भासमान द्वैत समाप्त हो जाता है और तब पूर्ण स्वतंत्रता का उदय होता है ।

३.२६	वे जो विचारों की भौतिक प्रकृति अर्थात् गुणों के प्रति सजग नहीं होते, विचारों एवं उसकी गतिविधियों में उलझ जाते हैं। पूर्णज्ञानी को खण्डित चेतना वाले ऐसे मूर्खों को विचलित नहीं करना चाहिए ।

१३.२६	विचारक ''मैं'' को सदैव विचारों के यांत्रिक एवं भौतिक प्रकृति द्वारा उत्पन्न एवं क्रियान्वित किया जाता है–जो ऐसा प्रत्यक्षतः देखते हैं वे अकर्त्ता (सर्वव्यापक चैतन्य, दिव्यता, कृष्ण) की झलक पाते हैं । (नमो भगवते वासुदेवाय)।

१३.१६	प्रकृति अर्थात् शक्ति (ऊर्जा एवं उसकी भौतिक अभिव्यक्ति) और पुरूष अर्थात् सर्वव्यापक चैतन्य (शून्यता, आकाश, चिति), दोनों को अनादि रूप जानें और यह भी जानें कि प्रकृति द्वारा कृपापूर्वक गुणों का रूपान्तरण स्वीकार किया जाता है।

१३.२०	कार्य–कारण चक्र के लिए प्रकृति उत्तरदायी है। ऐन्द्रिक प्रत्यक्षबोधों का वासना में परिवर्तन अर्थात् सुख और दुःख में वर्गीकरण को चैतन्य (पुरुष) बुद्धि द्वारा अपने में समाहित कर लेता है ।

१४.१६	व्यक्ति की देखने की ऊर्जा जब द्रष्टा एवं दृश्य में विभाजित नहीं होती तब वह गुणों (चेतना के उपादानों) से मुक्त होता है। वैसी स्थिति में समझदारी (जानकारी के ज्ञात साधनों से परे प्रज्ञा) की झलक मिलने के कारण एक मौलिक रूपान्तरण होता है और इस तरह व्यक्ति मुझको (पूर्ण सचेतनता को) प्राप्त होता है।

३.३३	व्यक्ति समान्यतः गुणों (लक्षणों एवं प्रवृत्तियों) के अधीन होकर कार्य करता है । बुद्धिमान व्यक्ति भी ऐसा करते हैं । सभी जीव गुणों के वशीभूत होते हैं। अतः उन्हें ऐसा करने से कौन रोक सकता है ?

४. गुणों के परे अर्थात् गुणातीत अवस्था

१४.२२ जो गुणातीत हो गया है वह न तो अपने गुणों में आसक्त होता है और न ही उनसे मुक्ति चाहता है ।

१४.२३ तब व्यक्ति तटस्थता (साक्षी–भाव) में स्थित होता है । गुणों के कार्य के निश्चे अवलोकन (साक्षी भाव में दर्शन) से व्यक्ति भय रहित तथा जल–धारा के मध्य चट्टान की तरह अडिग हो जाता है और वह गुणों से विचलित नहीं होता ।

१४.२४ उसके लिए दुःख और सुख दोनों सम होते हैं और वह अस्तित्व की सहजावस्था में रहता है । उसके लिए ढेला, पत्थर और स्वर्ण एक समान होते हैं, अपने और पराये तथा निन्दा–स्तुति भी एक समान होती हैं । वह शांत और स्थिर होता है ।

१४.२५ अनुबन्धनों से मुक्त व्यक्ति के लिए मान एवं अपमान समान होते हैं तथा वह मित्र एवं शत्रु के प्रति निष्पक्ष अर्थात् एक–सा व्यवहार करता है । वह अपने संस्कारों के सभी बंधनों का त्याग कर देता है । ऐसा व्यक्ति गुणातीत अवस्था को प्राप्त कहा जाता है अर्थात् वह चेतना के अवयवों से मुक्त होता है यद्यपि दैनिक कार्यों को करने के लिये वे आवश्यकतानुसार उपलब्ध रहते हैं।

१४.२० जब व्यक्ति शरीर से उत्पन्न होने वाले तीनों गुणों के परे हो जाता है तब वह ''अकर्त्ता–शरीरी'' के प्रति जागरण (शाश्वत चैतन्य से योग) की अवस्था में होता है और उसे ही जन्म, मृत्यु, भय एवं दुःखभोग के बंधनों से मुक्त तथा विराट आकाश को उपलब्ध होना कहा जाता है ।

२.४५ तीनों गुणों के प्रति जागृति व्यक्ति को अनुबंधित–प्रतिक्रियाओं से मुक्त कर देती है । इस तरह व्यक्ति सदा के लिए अद्वैत के अस्तित्वमय सहजावस्था में प्रतिष्ठित हो जाता है जहाँ चाहने–पाने एवं संचय की लालसा नहीं रहती।

२.४६ किसी व्यक्ति के लिए ज्ञान की अवस्था में होने पर, वेदों का उतना ही महत्व रहता है जितना सर्वत्र जल के विद्यमान होने पर एक कुँआ का होता है।

४.२४ सचेतनता (जागरूकता) अर्पण है जो सचेतनता द्वारा सचेतनता की अग्नि में डाली जाती है । सचेतनता उसी को प्राप्त होती है जो अपने सभी कर्मों में हमेशा सचेतन (जागरूक) होता है ।